

रहनि हमारी

जीवन जीने की शर्त्तें निरंतर कठोर होती चली जा रही है । हम , यानी कवि विनोद दास और मैं, इस प्रसंग में अपनी चिंताएं आपस में बांट रहे थे। हमारे जैसे अपेक्षाकृत सुरक्षित जीवन जीनेवालों की जब यह दुर्दशा है तब निरंतर एक असुरक्षा से निकलकर दूसरी असुरक्षा की घेरेबंदी में फंसकर जीवन-यापन करने के लिए बाध्य लोगों की दुर्दशा के क्या कहने! इसी संदर्भ में पटना में रहनेवाले कवि मित्र मदन कश्यप के एक पत्र का हवाला हमारे बीच उपस्थित हुआ। इस पत्र में अन्य बातों के अलावे भाई मदन कश्यप ने यह लिखा था कि पटना अब रहने लायक शहर या कि जगह नहीं है। किसी भी व्यक्ति के लिए अपने वास-स्थान के प्रति मन में थोड़ा मोह -अपनापन-लगाव का हुआ करना ही स्वाभाविक होता है। इसमें थोड़ी मजबूरी के लिए भी गुंजाइश होती है, तो थोड़े-से प्यार के लिए भी जगह होती है। उस जमाने में गोस्वामी तुलसीदास जैसे महाकवि ने भी लिखा था कि जहां बसइ सोइ सुंदर देसू। फिर एक, संवेदनशील कवि अगर आज के जमाने में अपने व्यक्तिगत पत्र में अपने वास-स्थान के बारे में ऐसे विचार समानधर्मा कवि को लिखता है तो उसकी मानसिक स्थिति और पीड़ा को समझने के लिए अतिरिक्त तो नहीं लेकिन कुछ संवेदनशीलता तो चाहिए ही। इस पीड़ा की अवहेलना तो नहीं की जा सकती। नहीं की जानी चाहिए। मेरे इस तरह से सोचने का एक और कारण है। मैं मूल रुप से बिहारी हूँ, या कहिए बिहारी मूल का हूँ। पिछले दिनों जब मैं खुद बिहार में होनेवाले नरसंहारों और प्रत्येक क्षेत्र में हो रही गिरावट की खबरों से ऊबकर और उससे भी अधिक आतंकित होकर पलायनी मुद्रा में एक नये वास-स्थान की तलाश में व्यग्र था तभी भाई मदन कश्यप का एक पत्र मुझे भी मिला था जिसमें यह बात लिखी हुई थी कि बिहार में रहना एक संवेदनशील आदमी के लिए कितना त्रासद अनुभव हुआ करता है।शायद, एक तरह का उपालंभ भी उसमें अंतर्ध्वनित था कि पश्चिम बंगाल जैसे वामपंथी शासनवाले राज्य में रहते हुए इस पीड़ा को मैं समझ भी कैसे सकता हूँ। जो हो, उस पत्र ने भी पश्चिम बंगाल में बस जाने के निर्णय तक पहुंचने के लिए मुझे उकसाया जरूर, बिहारी मूल का होकर बिहार से बाहर रहने की मानसिक और सांस्कृतिक पीड़ा को जानते और भोगते होने के बावजूद। अब, बिहार में रहनेवाला कोई बिहारी सहज में अनुमान भी नहीं कर सकता कि किस-किस प्रकार की ठिठोलियों से बिहार से बाहर रहनेवाले बिहारियों का साबका पड़ता है और किस तरह तिलमिला कर रह जाता है मन। ध्यान रहे यह मूल रूप से सांस्कृतिक समस्या है जिसके अपने राज-अ-नैतिक निहितार्थ और फलितार्थ हैं।

तीन-चार साल के बाद उस प्रसंग का फिर इस तरह उपस्थित होना मुझे आज के आम आदमी की रहनी पर गंभीरतापूर्वक सोचने के लिए विवश कर गया। आज की जो हालत है, उसमें आम आदमी अपनी सबसे सुरक्षित समझी जानेवाली जगह पर सबसे अधिक असुरक्षित हो गया है, बोध और घटना दोनों ही स्तर पर। ऐसा लगता है जैसे मानव जाति की बहुत बड़ी आबादी अपने लिए एक सर्वथा नये वास-स्थान की तलाश में बेचैन है। मुझे लगता है, मनुष्य मूल रुप से अपने आस-पास एक नैतिक वितान बुन और रचकर उसके अंदर उसी प्रकार पलता है जैसे सीपी में मोती। अपने पाश्विक स्वभाव को यथासंभव स्थगितकर वह नैतिकता के कवच में ही पलता है। इस नैतिकता के कई नाम और रुप हो सकते हैं। नैतिकता का यह कवच सबसे अधिक जरुरी होता है मध्यवर्गीय स्वभाववाले मनुष्य के लिए। इस नैतिकता के अपने बहुत सारे अगर-मगर हैं और अपना अलग व्याकरण है। इसकी कोई अचल-अटल परिभाषा नहीं है, कई बार यह एक प्रकार का छद्म भी हो सकती है, तथापि यह मध्यवर्गीय चेतना की उस आकांक्षा को तुष्ट करने में कामयाब होती है कि वह एक ऐसी जिंदगी जी रहा है, जिसमें ना ऊधो का लेना न माधो का देना की गुंजाइश सबसे अधिक रहती है। वह, ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर की स्थिति में रुखा-सूखा खाकर ठंढा पानी पी सकने की बांछित निर्वैर-जिंदगी जीते हुए कबीरदास की तरह

अपने भी भूखे न रहने और साधू के भी भूखे न जाने की सर्वोच्च मध्यकालीन-नैतिक कामना को अपना मनोरथ बनाकर उस पर केंद्रित रह सकता है।

मध्यकालीन चेतना के अवसान और आधुनिक काल की शुरुआत में ही संदेह के द्वारा विश्वास को विस्थापित किये जाने और मध्यकालीन मनोरथ के निरर्थक हो जाने से उत्पन्न जटिलताओं के कारण एक सर्वथा नयी नैतिक-प्रपत्ति की सामाजिक-सांस्कृतिक माँग सामने आती है। इस नैतिक-प्रपत्ति के अभाव में आधुनिक जीवन अकुलाने लगता है। निराला जैसे महाप्राण कवि की कविताओं में यह अकुलाहट दगा की, इस सभ्यता ने दगा की का काव्य-निष्कर्ष लेकर उपस्थित होता है। इस काव्य-निष्कर्ष में तात्कालीन आधुनिक मिजाज के दबाव असर तो है ही लेकिन मध्यकालीन सामाजिक संदर्भ भी है।

आज की क्षिप्र मति- गतिवाले उत्तर-आधुनिक स्वभाव के इस समय में जब नयी नैतिक-प्रपत्ति बनी नहीं और पुरानी किसी काम की रही नहीं तब संवेदनशील मन का बार-बार विचलित हो जाना सहज स्वाभाविक है। संघर्ष-भीरु मध्यवर्गीय मन बार-बार अकुलाता तो है, पर उसे कोई राह नहीं मिलती है। वह राम जैसे किसी प्रताड़ित-संधर्षशील सक्षम नायक की प्रतीक्षा में दिन गिनता हुआ उसके दूत के आगमन पर विभीषण की तरह अपनी रहनी का भेद खोलता है, यह कहते हुए कि जिमि दसनन्हि महं जीभ बिचारी। बौद्धिक वर्ग राम-रावण के अनिर्णित युद्ध में किसी योद्धा की तरह लड़ तो नहीं सकता है लेकिन जिस नाभि-कुंड में अमृत रहता है उसका पता होने का गुमान उसे होता है। विडंबना यह की आज राम और रावण का अमृत-कुंड एक ही संयुक्त नाभि में सुरक्षित है। और यही आज के संवेदनशील मन की अकुलाहट का नाभि-कुंड है। इससे निस्तार नहीं है।

(ध्यातव्य है कि यह यथा-स्मृति 2000 के आस-पास लिखा गया था और जनसत्ता में छपा था।)